यह मेरे लिए बहुत ही सौभाग्य की बात है कि धर्म और जीवन साधना के संबंध में थोड़ी-सी बातें आपसे कहूंगा। मैं देश के हजारों लोगों के दर्शन कर रहा हूं। उनके जीवन से परिचित हो रहा हूं। एक बात देखकर मन में बहुत दुःख मालूम होता है कि लोगों के जीवन की आनंद की संभावना कम होती जा रही है और लोगों के जीवन से प्रकाश बुझता मालूम होता है। यह पूरी सदी जैसे अंधेरे में घिर गई है और हमारे मार्ग प्रकाश से सूने हो गए हैं।

एक युग था, जिन्होंने जाना, उन्होंने कहा- मनुष्य ईश्वरीय ही हैं। लेकिन जिस मनुष्य को हम देखते हैं, वह तो ईश्वरीय मालूम नहीं होता। जिन्होंने मनुष्य की अंतरात्मा को पहचाना, उन्होंने कहा- उसके भीतर ब्रह्म का निवास है। लेकिन हम तो मनुष्य के भीतर बैठे हुए दानव का दर्शन कर रहे हैं। और हजारों वर्षों से दृष्टा और ऋषि जो चिल्लाते रहे हैं कि मनुष्य के भीतर आनंद का शाश्वत केन्द्र हैं। मनुष्य को देखकर मालूम होता है, क्या वह सब गलत थे?

जो विकृत, जो अस्वाभाविक, जो जहरीली और दुःखद मनःस्थिति मनुष्य की बन गई है, उसके जीवन में जो घृणा का और अंधेरे का विस्तार हो गया है। उसके जीवन में सब धुआं-धुआं सा फैला हुआ मालूम होता है। अगर यही सच है, तो प्राचीन समस्त संस्कृतियां, सारे धर्म असत्य रहे होंगे। अगर यही दुःख सत्य है, तो आनंद की सारी बातें भुलावा रही होंगी। लेकिन उन बातों को भुलावा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन बातों को मानकर कुछ लोगों ने परम आनंद को उपलब्ध किया है। उनकी स्मृति इतिहास पर छूट गई है। उनका प्रभाव इतिहास पर छूट गया है। और जलते हुए दीपक की भांति उनको देखकर ऐसा लगता है- जो एक मनुष्य के जीवन में संभव हुआ, वह दूसरे मनुष्य के जीवन में संभव क्यों नहीं हो सकता? अगर सिद्धार्थ, गौतम बुद्ध हो गया, तो मैं क्यों नहीं हो सकता हूं? कोई और क्यों नहीं हो सकता हैं? जो एक मनुष्य के भीतर घट सकती है घटना, वह घटना प्रत्येक मनुष्य के भीतर घट सकती है।

प्रतीत होता है फिर वे गलत नहीं थे, हमारी सदी कुछ गलत होती चली आई है। और इस गलती के पीछे, इस विकृति के पीछे कुछ बुनियादी कारण हैं। उन कारणों को न समझें और उनको न मिटाएं, तो ऊपर का कोई उपचार काम नहीं दे सकता।

मैं एक छोटी-सी कहानी से अपनी चर्चा को प्रारंभ करता हूं। इस कहानी में; एक बिल्कुल काल्पनिक, झूठी कहानी में, इस युग की मनःस्थिति का जैसा प्रतिबिंब मुझे दिखा, वैसा सत्यतम कही हुई कथा में भी हो नहीं सकता। मैं एक बच्चों की कहानी पढ़ता था। मैं पढ़ता था एक बच्चों की झूठी और काल्पनिक कहानी। ईश्वर ने देखकर कि मनुष्य के पास समस्त समृद्धि के साधन उपलब्ध हो गए हैं, लेकिन जीवन तो दुःख से भरता जाता है। बाहर समृद्धि बढ़ती जाती है। भीतर मनुष्य दरिद्र होता चला जाता है। बाहर प्रकाश बढ़ता चला जाता है, भीतर अंधेरा घिरता चला जाता है। इस स्थिति को देखकर ईश्वर ने दुनिया के तीन बड़े प्रतिनिधि राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को अपने पास बुलाया। यह पूछने के लिए कि तुम्हें क्या हो गया है? सबकुछ होते हुए तुम दरिद्र, दुःखी और पीड़ित क्यों हो गए हो? ईश्वर ने ब्रिटेन, अमेरिका और रूस के प्रतिनिधियों को बुलाया।

मैंने कहा- ये कहानी बिल्कुल काल्पनिक है। ईश्वर ने उन तीन मुल्कों के प्रतिनिधियों को बुलाया और उनसे पूछा कि तुम क्या चाहते हो? मैं तुम्हें वरदान दे देता हूं। तुम अपनी ये हिंसा की दौड़ और ये घृणा की दौड़

को बंद कर दो और तुम ये जो सारे दीपक बुझा दे रहे हो मनुष्य के जीवन के; यह बंद कर दो। तुम जो चाहते हो वह मैं तुम्हें वरदान दे देता हूं।

अमेरिका के प्रतिनिधि ने कहा कि मेरे मालिक, हम कुछ और नहीं चाहते, पूरी अमेरिका की एक ही आकांक्षा है कि ज़मीन तो रहे लेकिन ज़मीन पर रूस का कोई निशान न रह जाए। हमें यह वरदान दे दें। और हम कुछ चाहते ही नहीं है।

ईश्वर ने बहुत वरदान दिए होंगे। उससे ऐसा वरदान कभी मांगा नहीं गया था। उसने बहुत दुःखी, उदास मन से रूस के प्रतिनिधि की तरफ देखा; तो रूस के प्रतिनिधि ने कहा- महानुभाव एक तो हम आपको मानते नहीं हैं। एक तो हमें विश्वास नहीं आता कि आप हो। लेकिन हम मान सकेंगे, आपकी सत्ता को तभी मान सकते हैं अगर अमेरिका की सत्ता न रह जाए। नक्शे तो हों लेकिन अमेरिका का कोई रंग या कोई रेखा नक्शों पर दिखाई न पड़े। तो हम आपको मान सकते हैं और स्वीकार कर सकते हैं। इतनी ही हमारी आकांक्षा है।

और इन दो ने जो मांगा, उसके दुःख से दबे हुए ईश्वर ने ब्रिटेन के प्रतिनिधि की तरफ देखा और जो ब्रिटेन ने मांगा, वह तो मन में रख लेना जैसा है। ब्रिटेन ने कहा- मेरे प्रभु, हमारी अपनी अलग से कोई आकांक्षा नहीं है। इन दोनों की आकांक्षाएं एक साथ तृप्त कर दें, तो हमारी आकांक्षा पूरी हो जाएगी। ब्रिटेन के प्रतिनिधि ने कहा--इन दोनों की आकांक्षाएं एक साथ तृप्त कर दें, तो हमारी मनोकामना पूरी हो जाएगी।

जिस सदी का मन, जिस समाज का मन और जिस सभी लोगों के पूरे के पूरे विचार इस तरह के आत्मघातक हो गए हों और एक-दूसरे का विनाश करना चाहते हों, जानना चाहिए वह सदी स्वस्थ नहीं हैं। उस सदी के मूल्य कहीं अस्वस्थ हो गए हैं, और कहीं जड़ में घुन लग गया है, और मनुष्य की अंतरात्मा भीतर से कुछ विक्षिप्त हो गई है। इस विक्षिप्त होने के पीछे बुनियादी कारण हैं। उनमें सबसे महत्वपूर्ण कारण और उनमें सबसे कीमती बात, और उनमें आधारभूत; जो इस बीमारी के पीछे छिपा हुआ विचार है, वह मैं आपसे कहना चाहता हूं।

कोई 200 वर्ष हुए, मनुष्य ने एक-एक चरण, धीरे-धीरे धर्म को, ईश्वर को, धर्म की साधनाओं को धीरे-धीरे अस्वीकार करना प्रारंभ किया। यह प्रारंभ बुनियादी रूप से गलत हुआ था, ऐसा नहीं है। धर्म के नाम पर जो भी आडंबर, धर्म के नाम पर जो भी अंधविश्वास, धर्म के नाम पर जो भी व्यर्थ की फिजूल बातें इकट्ठी हो गई थीं, उनकी प्रतिक्रिया में विरोध प्रारंभ हुआ। उनका विरोध प्रारंभ हुआ। लेकिन एक बार जो विरोध पकड़ गया, एक बार जब मनुष्य का मन धर्म के अंधविश्वासों व क्रियाकांडों के प्रति विरोध और प्रतिक्रिया से भर गया, तो यह तय करना कठिन हो गया कि यह विरोध कहां रुके... ! जो विरोध अंधविश्वास से शुरू हुआ था, वह विरोध ईश्वर के ऊपर, सीधा धर्म की मूलभूत सार-सार की बातों पर भी विरोध से भर गया।

वोल्तेयर ने फ्रांस में कहा कि 'धर्म मरणासन्न है और ईश्वर अपनी मरणशैया पर पड़ा हुआ है।' यह भद्दी बात थी यह कोई मनुष्य के मुंह से कहने जैसी बात नहीं थी। लेकिन बात यहीं नहीं रुकी। उसके कुछ दिन बाद ही जर्मनी के दूसरे विचारक फ्रेडरिक नीत्शे ने कहा--ईश्वर अब मर भी गया और मनुष्य अपना मार्ग चुनने को स्वतंत्र है। नीत्शे ने यह बात कही। यह कोई एक विचारक कहता होता, तो ठीक था। मगर धीरे-धीरे यह बात पूरे पश्चिम के मस्तिष्क पर छा गई और अब धीरे-धीरे इसकी छाया पूरब के लोगों में भी उतरती जा रही है। अब पूरब के लोग चाहे ऊपर से धर्म के संबंध में श्रद्धा जाहिर करते हों, भीतर श्रद्धा खोखली हो गई है। अब चाहे वो मंदिर में जाकर पूजा-अर्चना करते हों, लेकिन हाथ जो उनके पूजा करते हैं, वे निष्प्राण हो गए हैं। और चाहे वे अब किसी धर्म के अपने को अनुयायी कहते हों, लेकिन लंबा अरसा हुआ; जबसे वे अनुयायी नहीं रह गए

हैं। पूरब भी अब धीरे-धीरे पश्चिम की नास्तिकता, और पश्चिम के अंविश्वास और अनास्था से भरता चला जा रहा है।

जो नीत्शे ने कहा, बाद में कार्ल मार्क्स ने भी कहा। कार्ल मार्क्स ने कहा 'धर्म अफीम का नशा है।' जितनी जल्दी इससे पिंड छूट जाए, उतना बेहतर है। फिर और बाद में फ्रायड ने कहा--'धर्म से ज्यादा मनुष्य और किसी चीज से पीड़ित नहीं हुआ। इस भ्रम से मुक्ति हो तो मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा को और अपनी पूरी संभावना को और अपने पूरे आनंद को पा सकता है।' ये बातें बहुत अजीब-सी मालूम होती हैं। ये बातें बहुत अजीब मालूम होती हैं कि धर्म और ईश्वर से मुक्त होकर मनुष्य आनंद को उपलब्ध होगा--ये बातें अजीब नहीं थीं, गलत थीं।

और ये पिछले 200-300 वर्ष के विकास ने साबित कर दिया। नीत्शे ने कहा था- ईश्वर मर गया है। ईश्वर तो नहीं मरा, लेकिन मनुष्य जरूर मरने के किनारे पर पहुंच गया है। दो महायुद्ध लड़े। वैसे महायुद्ध कभी लड़े नहीं गए थे। उन दो महायुद्धों में मनुष्य ने मनुष्य के साथ जो किया है, वह कोई पशु किसी पशु के साथ कभी नहीं कर सका है। और हमने हिरोशिमा और नागासाकी में एक-एक बम से साठ हजार और एक लाख लोगों को एक साथ समाप्त किया। तो पशु की संभावना के बाहर यह पशुता है। यह संभव नहीं था। अब हम जिस विराट युद्ध की तैयारी में लगे हैं, अगर वह हुआ--और जिसकी होने की पूरी संभावना है, जैसा मनुष्य है, अभी उसको देखते हुए--तो संभव है हम मनुष्य की पूरी इकट्ठी सामूहिक आत्महत्या कर लेने को तैयार हो गए हैं।

यह परिणाम हुआ है मूलतः धर्म और ईश्वर से अलग हो जाने का, विच्छिन्न हो जाने का। जैसे ही मनुष्य विराट से टूट जाएगा, वैसे ही उसके भीतर वह जो श्रेष्ठ है, वो जो उत्तम है, वह जो सार है, वह मुरझाने लगता है। हम किसी प्रकाश के केंद्र से संयुक्त होकर ही प्रकाश को पा सकते हैं। मनुष्य स्वभावतः अपूर्ण है, और बिना पूर्ण से संयुक्त हुए उसके जीवन की प्यास नहीं बुझ सकती। धर्म कोई ऊपर से थोपी गई बात नहीं हैं, वह मनुष्य की स्वभाविक जिज्ञासा है। धर्म का एक ही अर्थ है कि मनुष्य जो है उससे तृप्त नहीं है। मनुष्य की जो सीमा है, उससे ज्यादा असीम होने की उसकी आकांक्षा है। मनुष्य का जो दायरा है, उतने में मनुष्य की संतुष्टि नहीं है। वह बड़े दायरे, और बड़े दायरे, और श्रेष्ठतर दायरों को पाना चाहता है। मनुष्य की जो चेतना है, वो और दिव्य, और विराट, और ब्रह्म की चेतना में परिवर्तित होना चाहती है। कोई मनुष्य आज तक इस ज़मीन पर ऐसा पैदा नहीं हुआ, जो अपनी सीमा से संतुष्ट था। सीमा के प्रति असंतोष और असीम की आकांक्षा धर्म का कारण है। धर्म का एक ही अर्थ है- बूंद सागर होना चाहती है। सीमित असीम होना चाहता है। क्षुद्र विराट को पाना चाहता है। और क्षुद्र जब तक विराट को न पाले, तब तक उसके भीतर जो अंधेरा है, विकार है और विष है, उससे मुक्ति संभव नहीं है।

मनुष्य के भीतर दोनों संभावनाएं हैं। मनुष्य चाहे तो पशु तक नीचे उतर सकता है, मनुष्य चाहे तो प्रभु तक ऊपर भी उठ सकता है। मनुष्य एक सीढ़ी है, मनुष्य कोई परिपूर्ण प्राणी नही है। मनुष्य कोई पूरी विकसित घटना नहीं है। मनुष्य केवल एक मार्ग है, जिसके दोनों छोरों पर जाना संभव है। चाहें तो हम नीचे उतर सकते हैं, चाहें तो ऊपर जा सकते हैं।

इस संबंध में एक कहानी मुझे स्मरण आती है- एक रोमन कथा आपसे कहता हूं- रोम में एक चित्रकार हुआ। वो जब युवा था, जब जवान था, उसके मन में एक विचार उठा था कि मैं एक ऐसे मनुष्य का चित्र बनाऊं, जिसमें मनुष्य के भीतर जो भी श्रेष्ठ है उसका प्रतिबिंब आ जाए। मनुष्य के भीतर जो भी दिव्य है, मनुष्य के भीतर जो भी मनुष्योत्तर है, लोकोत्तर है, उसकी छाप, उसका प्रभाव उसकी झलक मेरे चित्र पर पड़ जाए। वो

मनुष्य के भीतर के दिव्य का, डिवाइन का एक रूप और एक आकार प्रस्तुत करना चाहता था। वह रोम के गांव-गांव में गया। साधुओं के मठों पर गया। मंदिरों, गिरजों में गया। जहां भी चार भले लोग बैठते थे, वहां गया। इस तलाश में कि ऐसी कोई आकृति, ऐसा कोई चेहरा, कोई आंखें मिल जाएं। और अंततः एक दूर के गांव में एक भोला-सा, एक शांत, एक अत्यंत शांत वृत्ति का युवक उसे मिल गया। उसकी आंखों में कुछ दूर की झलक थी। उसकी आंखों में कुछ मनुष्य के पार के लक्षण थे, ध्वनि थी। उसकी आंखों में कुछ दिव्यता का अवतार मालूम होता था। उसने उस व्यक्ति के आकार पर, उस युवक के आकार पर एक चित्र बनाया, मनुष्य की दिव्यता का। उस चित्र की लाखों प्रतियां बनी और वह रोम में जगह-जगह प्रसिद्ध हुआ।

20 वर्ष बाद उस चित्रकार के अपने बुढ़ापे में उसे एक दूसरी अंतर्दृष्टि ने पकड़ लिया। उसे ख्याल आया कि मरने के पूर्व मनुष्य के भीतर जो बुरा है, मनुष्य के भीतर जो निकृष्ट है, मुनष्य के भीतर जो अंधेरा है, उसका भी एक चित्र मैं देता जाऊं, तो दोनों चित्र मनुष्य के बाबत पूर्ण हो जाएंगे। पूरी बात बन जाएगी। वह दोबारा अपने बुढापे में तूलिका को और अपने कैनवास को लेकर फिर रोम के गांव-गांव में भटका। कैदखानों में, पागलखानों में, जुआघरों में, मधुशालाओं में उसने उस आदमी की तलाश की, जिसकी आंख में पशु के सिवाय कुछ भी न हो। और एक दिन एक कारागृह में उसे एक व्यक्ति मिल गया, जिसमें पूरा का पूरा पशु था। उसकी आंखों में, उसके चहरे में, उसके भाव में, उसके उठने, हिलने-डुलने में सब तरफ पशु अंकित था। कहीं भी कोई मनुष्य की संभावना नहीं दिखाई देती थी। उसने उस कारागृह के कैदी के आधार पर दूसरा चित्र बनाया, मनुष्य के भीतर की पशुता का। जिस दिन यह चित्र बनकर पूरा हुआ, उस दिन एक घटना घटी, जो बहुत ही बहुत मधुर है, बहुत ही बहुत अर्थपूर्ण है। उस दिन एक घटना घटी वो यह सोचकर कि मैं अपने गांव में जाकर अपने दोनों चित्रों को मिलाऊं और देखूं कि कला की दृष्टि से कौन-सा श्रेष्ठ बना? अपने पहले चित्र को भी कारागृह में लेकर पहुंचा, उसने दोनों चित्रों को दीवालों के पास रखा, दूर खड़े होकर उनको देखता था कि कला की दृष्टि से कौन-सा श्रेष्ठ बना है? उसके पीछे रोने की आवाज सुनाई पड़ी। उसने लौटकर देखा- जिस कैदी के आधार पर उसने अपनी दूसरी कृति को बनाया था, वह रो रहा था। उस चित्रकार ने पूछा कि तुम क्यों रोते हो! मेरे चित्रों को देखकर तुम्हें रोने का कोई कारण मुझे समझ नहीं आता। क्यों तुम्हारी आंख से आंसू गिरने लगे?

उस कैदी ने जो कहा- उसे स्मरण रखना। उस कैदी ने कहा- एक सत्य कहूं, जिसको आप पहचान नहीं पाए। ये दोनों चित्र मेरे हैं। 20 वर्ष पहले, पहला चित्र भी मेरा ही बनाया था।

वे दोनों चित्र एक ही आदमी के थे, यह तो संयोग की बात थी। लेकिन ये दोनों चित्र हम सबके भीतर हैं। ये दोनों चित्र प्रत्येक मनुष्य के भीतर हैं। और हम चाहें तो पशु तक उतर सकते हैं, चाहें तो प्रभु तक उपलब्ध हो सकते हैं। ये दोनों संभावनाएं हैं और इसी संभावना के कारण ही धर्म का जन्म हुआ है। धर्म कोई बाहर से थोपा गया सत्य नहीं है, जिससे मनुष्य को कभी मुक्त किया जा सके। मनुष्य जब तक मनुष्य है, तब तक धर्म से उसकी मुक्ति असंभव है। और इसलिए असंभव है कि उसकी प्रकाश में उठने की प्यास स्वाभाविक है और उसके विराट होने की प्यास स्वाभाविक है। और उसकी आकांक्षा, पूर्ण होने की प्यास स्वाभाविक है और वांछनीय है।

धर्म मनुष्य को विराट से जोड़ देना चाहता है। यह विराट से जोड़ने की घटना कैसी घट सकती है, इस संबंध में ही मुझे आज चर्चा ही नहीं करनी हैं, वही साधना भी है। धर्म है विराट को पाने की, प्रभु को पाने की, अनंत को, असीम को और नित्य को पाने की आकांक्षा और जीवन साधना है।

धीरे-धीरे क्रमशः पहाड़ की नदी दौड़ती सागर की तरफ चली जाती है। ऐसा पूरा जीवन किसी मरुस्थल में न खो जाए, पूरा जीवन कहीं किसी मरुस्थल में में भटककर सागर से मिलने से वंचित न हो जाए। ऐसा ही

जीवन चलते-चलते क्रमशः एक दिशा को, एक सम्यक दिशा को पकड़कर किसी दिन विराट से मिल सके, तो जीवन साधना बन जाता है।

धर्म है आकांक्षा, साधना है उसकी प्ररिपूर्ति का विज्ञान। कौन-से माध्यम से बूंद समुद्र को उपलब्ध हो सकती है और 'मैं' क्षुद्रतम विराट का हिस्सा और अंग बन सकता हूं? मेरी क्षुद्र-सी कड़ी एक महान संगीत का हिस्सा बन सकती है, उसके बिना कोई मार्ग शांति का नहीं। मनुष्य अपने में सीमित कभी शांत नहीं हो सकता है। जैसे एक गीत की अकेली कड़ी बेमानी होती है, उसमें कोई अर्थ नहीं होता। किसी संगीत की एक लहर को अलग तोड़ना, वो व्यर्थ हो जाएगी, बेसुरी हो जाएगी। सबके बीच, समस्त के बीच, पूरे गीत और लय के बीच उसकी सार्थकता और सामंजस्य, और अनुपात और सौंदर्य है।

वैसे ही मनुष्य जिस दिन अपनी टूटी कड़ी को विराट के संगीत का एक अंग बना लेता है और धीरे-धीरे उसका 'मैं' खोता चला जाता है और वो विराट में विलीन हो जाता है। जिस दिन धीरे-धीरे मेरे 'मैं' का स्वर क्षीण होने लगता है और उसका स्वर गहन होने लगता है, जिस दिन मेरी ध्वनि डूबते-डूबते मिट जाती है और वही सबकुछ हो जाता है, उसी दिन संगीत और सौंदर्य, और उस दिन जो अपरिसीम शांति और आनंद उपलब्ध होता है, धर्म की आकांक्षा उसी अपरिसीम आनंद को मनुष्य को देने की है।

यह कैसे घटित हो जाता है? इस घटना को समझने के लिए जरूरी है- यह घटना मनुष्य के बाहर से घटने की नहीं है। मनुष्य के साथ आश्चर्य का तथ्य यही है कि वो भीतर से प्रतिक्षण उस विराट के करीब है, बहुत निकट है। शायद उसमें ही खड़ा है। थोड़ा-सा व्यक्ति अगर अपने भीतर उतर सके शरीर की सतह और पर्त को छोड़कर, मन की सतह और पर्त को छोड़कर भीतर डूब सके, तो जैसे-जैसे भीतर डूबेगा तो पाएगा कि वो विराट के करीब होने लगा। जिस क्षण बाहर छूट गया हो, और केवल भीतर रह गया हो, उसी क्षण विराट के करीब होने की घटना घट जाती है। मनुष्य को अगर प्रभु तक पहुंचना है, तो उसे दो सीढ़ियां पार करनी होंगी। उसे अपने शरीर और अपने मन की सीढ़ियां पार करनी होंगी। ये दो ही सीढ़ियां हैं। आप किसी मंदिर की सीढ़ियां पार करने से प्रभु तक न पहुंचिएगा। किसी मस्जिद की सीढ़ियां पार करने से कोई प्रभु तक नहीं पहुंचता है। वे दो सीढ़ियां व्यक्तित्व के भीतर हैं--शरीर और मन। शरीर और मन के पार होकर, जो दीपशिखा अनंत चेतना की जल रही है, उसको उपलब्ध होते ही व्यक्ति विराट से संयुक्त हो जाता है।

एक छोटी-सी प्राचीन भारतीय कथा मैं आपसे कहता हूं, एक बहुत मीठी कहानी, बहुत अद्भुत, बहुत पहले अतीत में कभी भारत में घटी होगी, पुराणों में उसका उल्लेख है। इंद्र और विरोचन प्रजापति से पूछने गए। यह पूछने गए कि हम कौन हैं? यह तो हमें पता नहीं। 'मैं कौन हूं' यह विरोचन और इंद्र प्रजापति से पूछने पास गए।

प्रजापति ने कहा कि बहुत सरल-सी बात है। इसके लिए इतना काहे को भटके? वो सामने जो छोटी-सी तलैया है, वो जो छोटा-सा ताल है, तालाब है, उस पर चले जाओ। जब तालाब शांत हो, और उसकी लहरें सोई हों, तब उसके अंदर झांककर देख लेना- जो दिखे, जान जाना वही तुम हो।

वे दोनों गए। जब तालाब सोता था और लहरें शांत थीं, और हवाएं बहनी बंद थी, और तालाब बिल्कुल दर्पण हो गया था; तब उन्होंने झांककर देखा। दिखे दोनों के प्रतिबिंब। विरोचन बोला ठीक तो है, जो यह दिखता है, यही शरीर मैं हूं। इंद्र भी बोला, दिखता तो है।

दोनों चले। विरोचन तो तृप्त होकर लौट ही गया। इंद्र लेकिन रास्ते में थोड़ा-सा संदेह से घिरने लगा। उसे एक विचार उठा- जो दिखा, वही मैं हूं, तो जिसको दिखा वो कौन होगा? इंद्र को इस विचार ने बीच में पकड़ा। जो दिखा अगर वह मैं ही हूं, तो जिसको दिखाई दिया वो कौन है? जिसको दिखा वो मैं हूं, तब तो यह बात

ठीक भी है, लेकिन जो दिखाई दिया वो मैं हूं--यह बात बात ठीक नहीं मालूम होती। वह वापस लौटा, उसने प्रजापति को जाकर कहा- मैंने देखा कि मुझे एक संदेह ने पकड़ लिया है। मेरे मन में एक संदेह उठा- जो देख रहा है वो कौन है फिर?

प्रजापति ने कहा- ठीक तुमने सोचा! जो मन देखता है- वही तुम हो।

इंद्र फिर वापस लौटा। उसने सोचा कभी-कभी तो यूं भी होता है कि मन नहीं होता और हम होते हैं। मन गहरी प्रसुप्ति में, गहरी निद्रा में, जब स्वप्न भी खो गए होते हैं, और जब सब विचार भी सो गए होते हैं, और मन नहीं होता; तब भी हम होते हैं। तब भी सत्ता होती है, तब भी चेतना होती है, तब भी अस्तित्व होता है। तब भी हम मिट नहीं गए होते हैं। गहरी मूर्च्छा में, बेहोशी में, जब मन नहीं होता तब भी हम होते हैं। फिर कभी-कभी किसी क्षण में जब मन काम कर रहा होता है, तो भीतर से कोई मन को भी देखने वाला प्रतीत होता है। क्रोध उठ रहा हो तो भीतर कोई कहता है- क्रोध उठा। क्रोध दिखाई भी दे सकता है। मन में विकार चलते हैं, वे भी देखे जा सकते हैं। जो मन को भी देख सकता है, वो फिर कौन होगा?

यह सोचकर इंद्र फिर दुबारा लौट आया। उसने प्रजापति को जाकर कहा- यह बात भी कुछ संतुष्ट करती मालूम नहीं पड़ती है। मन के पीछे भी कोई झलक मालूम होती है।

प्रजापति बोले- जो इतनी दूर तक संदेह को लेकर चले, वो जरूर वहां तक पहुंच जाता है, जहां सत्ता का खेल है। प्रजापति ने कहा- अब मैं तुमसे अंतिम बात कहता हूं। मैं तुमसे कहता हूं जो कभी भी दृश्य नहीं बनता और सदा दृष्टा है। जो कभी भी दृश्य नहीं बनता और सदा दृष्टा है। जो निर्बाध रूप से, जो अंततः और अनन्त रूप से किसी भी स्थिति में दृश्य में परिणित नहीं किया जा सकता। और निरंतर पीछे हट जाता और सिर्फ देखने वाला ही होता है, केवल दृष्टा होता है--वही केवल तुम हो। जो दृश्य है, वो तुम नहीं हो।

प्रजापति ने एक सूत्र दिया, जो पूरे भारतीय वेदांत का मौलिक सूत्र है। वो यह है- जो कभी दृश्य नहीं बनता, और जो निरंतर दृष्टा है, जो निरंतर साक्षी है। और जो कभी साक्षी के विपरीत कभी कुछ नहीं होता, वही मनुष्य की चेतना है। और जो इस दृष्टा चेतना को उपलब्ध हो जाता है, वो विराट को उपलब्ध हो जाता है। दृष्टा में पहुंचते ही ज्ञात होता है कि समस्त सीमाएं दृश्य की थीं, शरीर की थीं या मन की थीं, अंहकार की थीं, विचार की थीं। इस सबके पीछे हटते ही, सीमा के पार दृष्टा है। तब असीम को उपलब्ध हो जाता है।

दृष्टा, जो मेरे भीतर है, जो मेरे भीतर निरंतर साक्षी चैतन्य की धारा है, जो ज्योति है, उसको पा लेने से व्यक्ति सीमा के ऊपर उठता है। उसके पा लेने से व्यक्ति उस विराट संगीत का अंग बनता है, जिसको पाकर किसी ने कहा था 'अहं ब्रह्मास्मि।' जिसके बीच कोई साधक पहुंचा था तो कहा था- मैं ही हूं प्रभु। जिसके बीच किसी क्षण किसी साधक ने कहा था 'ये सारा जगत मेरे भीतर है।' उस अनंत आनंद के बोध में और दृश्य-विसर्जन के बोध में ब्रह्म की उपलब्धि, स्वरूप की उपलब्धि, चेतना की उपलब्धि घटित होती है। उस घटना के बाद जीवन में दुःख समाप्त हो जाता है। जीवन का समस्त दुःख आत्म अज्ञान में है, जीवन का समस्त आनंद आत्मबोध में है। यह आत्मबोध मैंने कहा--इस छोटी-सी कथा में--दो सीढ़ियां पार करने से होता है। मैं शरीर नही हूं, यह जानना होगा। मैं मन नही हूं, यह जानना होगा। तब जो आंख है, उसके दर्शन होते हैं।

तो क्या करें--बैठकर दोहराएं कि मैं शरीर नहीं हूं? दोहराने से कुछ भी नहीं होगा। हज़ार बार दोहराएं कि मैं शरीर नहीं हूं; तो भी आप शरीर ही होंगे। शरीर नहीं हूं, यह दोहराने से कुछ अर्थ नहीं है। इसे जानने की पद्धति है, इसे जानना होगा। इसे दोहराना नहीं है, इसे ज्ञान का एक अंग बनाना होगा, तो इससे मुक्ति होती है। और हैरानी की बात है, हमारे जीवन का सारा पाप और हमारे जीवन की सारी विकृति इस एक बोध से पैदा होती है कि मैं शरीर हूं। आज यह जो पूरी सदी दुःख से भरी हुई मालूम होती है, उस सदी के पीछे दुःख का

कारण है, सभी ने स्वीकार कर लिया है- शरीर होने को। इस सदी ने मान लिया कि हम शरीर हैं। जो सदी मान लेगी देह को, वह देहवाद में पतित हो जाएगी। स्वभाविक है कि वो विक्षिप्त होने लगे, दुःखग्रस्त होने लगे, पतित हो जाए, टूट जाए और नष्ट हो जाए। कोई संस्कृति देह को स्वीकार करके श्रेष्ठ नहीं हो सकती। समस्त पाप इससे पैदा होते हैं, समस्त विकार इससे पैदा होते हैं, समस्त अहंकार इससे पैदा होते हैं। समस्त जीवन की दौड़, तनाव, अशांति इससे पैदा होती है।

एक महराष्ट्र में संत हुए हैं--एकनाथ। एकनाथ के पास एक व्यक्ति आता था। कुछ दिनों उनके पास आया। उसने उनको देखा-परखा, उनकी शांति को अनुभव किया, उनकी सुगंध को छुआ। उनके भीतर बहते संगीत का भी उसे बोध हुआ। उसने एक दिन पूछा- एकनाथजी, एक बात पूछनी है। मेरे मन में कल से एक विचार उठता है कि क्या नाथजी के मन में बुरे विचार न उठते होंगे? क्या नाथजी के मन में पाप न उठता होगा? क्या नाथजी के मन में वासना अपना सिर न उठाती होगी? मैंने सोचा कि यह पूछना उचित नहीं। लेकिन मन था कि माना ही नहीं, फिर मैंने सोचा पूछ ही लूं, पूछने में तो कोई हर्ज नहीं।

नाथजी ने कहा- बड़ी अच्छी बात पूछी, उत्तर अभी देता हूं। उसके पहले एक और ज़रूरी बात तुम्हें बता दूं, कहीं में भूल ना जाऊं।

और उन्होंने कहा- कल अचानक तुम्हारे हाथों पर मेरी दृष्टि गई, तो देखा तुम्हारी उम्र की रेखा समाप्त हो गई है। आज से सात दिन बाद सूरज के डूबने के साथ तुम्हारा जीवन भी डूबना तय है। तो यह तुमको बता दूं, कि कहीं मैं भूल न जाऊं। इतना मुझे कहना था, अब तुम पूछो, क्या पूछते थे?

वह आदमी बोला- मुझे कुछ पूछना नहीं है।

एकनाथ ने पूछा- तुमने बड़ी अच्छी कीमती और बहुमूल्य बात पूछी थी। उत्तर बड़ा अच्छा होता, एक सात्विक विचार में ले जाता।

लेकिन वह बोला कभी फुरसत होगी, तो मैं आऊंगा, अभी मैं जाता हूं।

उसके हाथ-पैर कंप गए। नाथजी ने कहा सात दिन और। और सूरज के डूबने के साथ तुम्हारा भी डूबना तय है। वह घर लौटा, आधा तो रास्ते में डूब गया। वह निष्क्रिय, निष्प्राण घर पहुंचा और द्वार पर ही गिर गया। पूछा लोगों ने, तो बताया उसने कि सब समाप्त हो गया है। अभी एक क्षण पहले तक सब दौड़धूप थी, एक क्षण बाद सब फीका पड़ गया है। बेमानी हो गया है। मोहल्ले में जाकर उन लोगों से क्षमा मांग आया, जिनसे उसने कभी कड़वी बात कह दी थी। जिनको भूल-चूक से कभी कुछ दुःख हो गया होगा। उन सबसे क्षमा मांग आया। बिस्तर पर लग गया। दिन-प्रतिदिन उसकी सांस गिरने लगीं और दिन-दिन उसके प्राण डूबने लगे। और सातवें दिन वह मारणासन्न था।

सातवें दिन एकनाथ उसके घर गए, बच्चे उनके पैरों पर गिरकर रोने लगे। उन्होंने कहा--रुको, मैं जरा भीतर तो पहुंचूं, बात क्या है?

वो भीतर गए, उस आदमी ने बहुत मुश्किल से आंख खोली, इतनी भी शक्ति मालूम नहीं होती थी उसे। उससे नाथजी ने कहा कि एक प्रश्न पूछने आया हूं- सात दिन में कोई पाप का विचार मन में उठा? सात दिन में कोई विकार ने पकड़ा? सात दिन में किसी बुराई ने सिर उठाया? तो वह आदमी बोला- आप भी इस अंतिम समय में मज़ाक करने आए हैं। मौत इतने करीब, इतनी सटकर खड़ी थी कि बीच में उसके और मेरे इतना फासला नहीं था कि कोई पाप उठ सके।

नाथजी ने कहा- तुम्हारी मृत्यु अभी आई नहीं। मैंने केवल तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दिया था। तुम्हें सात दिन बाद मौत दिखाई पड़ती है, मुझे 70 वर्ष बाद सही। लेकिन इतनी सटकर खड़ी है। यह शरीर मिट जाएगा, यह

भाव इतना स्पष्ट है। यह शरीर मृत्यु में जाएगा, यह बोध इतना साफ है कि पाप उठ आए, यह अंसभव है। विकार उठ आए, बीच में जगह नहीं है।

नाथजी ने जो उत्तर दिया, वह खूब सटीक था। वह उत्तर तो बहुत ठीक था। इस उत्तर के अतिरिक्त कोई और उत्तर है भी नहीं। यह शरीर मैं हूं, इस भ्रांत बोध के साथ जीवन में सब बुराई है, सब पाप और सब बंधन है। इस बोध से जाग जाना है कि मैं शरीर नहीं हूं। एक चरण तो यह है कि इस बोध से जाग जाना कि मैं शरीर नहीं हूं। दूसरा चरण इसके साथ ही संयुक्त है कि मैं मन भी नहीं हूं। मन भटकाता और भरमाता है और दौड़ाता है, और एक क्षण टिकने नहीं देता। पता नहीं चलता कि यह छोटा-सा जीवन कब बीत गया! और मन की दौड़ चलती रहती है, और चलती रहती है। आश्चर्य यह है कि मन की दौड़ से कभी किसी ने आज तक कुछ पाया नहीं है। आज तक मन ने हजारों को दौड़ाया और सब दौड़ के बाद उन्होंने पाया जैसे कि चलनी में पानी भरते रहे हों। बुद्ध ने कहा अंत में कि अब दिखा की यह मन की दौड़ में हम पड़ते तो ऐसा था जैसे चलनी में पानी भरते रहे हों, भरते रहे जीवनभर; और अब पाया कि चलनी खाली थी।

कितने लोग मन की दौड़ को मानकर चले हैं? कोई आप और मैं पहली बार थोड़ी ज़मीन पर चले हैं! इस जमीन पर हमारे जैसे बहुत लोग बहुत बार रहे हैं। वो सब मिट्टी में खो गए हैं। उनकी भी ऐसी ही दौड़ें थीं, उनकी भी ऐसी ही आकांक्षाएं थीं, उनको भी ऐसी ही वासनाओं ने पकड़ा था, और ऐसा ही ज्वर उनको भी चढ़ा था मन का, लेकिन वो खोकर कहां गए? मन की पूरी दौड़ को दौड़कर उन्होंने क्या पाया? आज तक एक भी मनुष्य ने कहा नहीं कि मन की मानकर मैं चला और कहीं पहुंचना हो गया हो। मन दौड़ाता है, पहुंचाता नहीं है। पहुंचाना उसका नियम नहीं है। मन की दौड़ को और मैं मन हूं, ऐसा मानकर चलने से जीवन भ्रांत हो जाता है, जीवन मरुस्थल में खो जाता है। और नदी के सागर तक पहुंचने की सब संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं।

दूसरा चरण जीवन साधना का इस बोध से भरना कि मैं मन नहीं हूं। ये दोनों चरण एक ही प्रयोग से पूरे हो जाते हैं, यह प्रतीति कि मैं शरीर नहीं, यह प्रतीति कि मैं मन नहीं, ध्यान के प्रयोग से एक साथ घट जाती हैं। ध्यान के अतिरिक्त और कोई राह नही है। और चाहे धर्म हिन्दुओं का हो, चाहे धर्म मुसलमानों का हो, चाहे धर्म बौद्धों का और जैनों का हो, उनके ऊपर के मंदिर और मस्जिद कितने ही अलग हों, और उनके साधुओं के भेष कितने ही अलग हों। और उनकी किताबों के अक्षरों में कितने ही फासले हों, और उनकी मूर्तियों में रूप और चेहरे अलग-अलग हों, लेकिन उन सबके भीतर अगर कोई एक सत्य बैठा हुआ है एक-सा, तो वह सत्य ध्यान का है।

चाहे बुद्ध ने कुछ पाया हो, चाहे महावीर ने, चाहे जीसस क्राइस्ट ने; पाने की विधि एक ही है। और इसलिए मैं कहता हूं--धर्म एक ही है--ध्यान। बाकी सब बातें साम्प्रदायिक हैं। धर्म बात एक ही हैः ध्यान-योग। बाकी सब बातें सांप्रदायिक हैं। बाकी सब बातें दो कौड़ी की हैं। बाकी बातों का कोई मूल्य नहीं है। मूल्य एक ही सत्य का है कि व्यक्ति ध्यान को उपलब्ध हो जाए। तो ध्यान की उस शांत स्थिति में दिखाई पड़ जाता है कि शरीर दूर पड़ा है, मन गया। उस शांत स्थिति में दिखता है स्पष्ट कि मैं शरीर नहीं, मैं मन नहीं- मैं कुछ और हूं। और यह कुछ और ही व्यक्ति को समस्त बंधनों से मुक्त कर देता है।

ध्यान का क्या अर्थ है? ध्यान का अर्थ है जैसा प्रचलित, वैसा मैं इसका अर्थ नहीं करता हूं। प्रचलित अर्थ है मन को दबाओ, मन का दमन करो, मन से लड़ो, एकजुट करो, एकाग्र करो, कहीं बांधो। मैं मानता हूं यह पागलपन की बात है। मन को लड़कर कोई जीत नहीं सकता। मन होता तो हम जीत जाते। मन नकारात्मक हो सकता है, नेगेटिव है, उसका पाजीटिव डिस्टेंस, उसकी सकारात्मक, भावात्मक सत्ता नहीं है। जो चीज होती है,

उससे लड़ा जा सकता है। जो केवल किसी का अभाव हो, तो उससे लड़ना पागलपन है। जैसे एक कमरे में अंधेरा हो, हम अंधेरे से लड़ नही सकते। अंधेरे की कोई सत्ता नहीं है। अंधेरा केवल प्रकाश के न होने का नाम है। अगर आप अंधेरे से लड़ें, तो आप ही टूट जाएंगे। अंधेरा वही रहेगा। गठरियां बांधें, बंदूक चलाएं, पहलवानों को बुला लें, रस्सियां बांधें; आप पाएंगे कि सारा प्रयोजन व्यर्थ है। अंधेरा वहीं का वहीं है। अंधेरे की कोई सत्ता नहीं है। प्रकाश से लड़ सकते हैं, अंधेरे से नहीं लड़ सकते। अंधेरे से लड़ने का एक ही उपाय है- किसी भांति प्रकाश ले आया जाए।

मेरा मानना है- ठीक इसके समतुल, कि मनुष्य के विचारों की और मन की सत्ता नकारात्मक है। ध्यान के आते ही वो नहीं पाई जाती है। मन से लड़ने वाला गलत प्रयास में लगा है। मैं मन से लड़ने को नहीं कहता हूं। ध्यान का अर्थ मन से लड़ना नहीं है। मन के प्रति जागरूक होना है। मन के प्रति साक्षीभाव से भरना है। केवल मन को देखना है और कुछ ध्यान में करना नहीं है। अगर कुछ और किया तो ध्यान नहीं होगा। ध्यान कभी नहीं हो सकता है। केवल शांत मन से बैठकर जो भी चलता हो, मन में जो विचारों का प्रवाह बहता हो, उसे चुपचाप देखते रहें- सिर्फ साक्षी होकर। जैसे मैं आपको देख रहा हूं। रास्ते पर लोग चलें, मैं उनको देखूं। अच्छे लोग जाएं, बुरे लोग जाएं, जाने दें। मानकर चलें--मन एक रास्ता है जिस पर विचारों के यात्री चलते हैं। न बुरे विचार से लड़ें, न भले विचार को रोकना चाहिए।